जिनपूजन रहस्य

पं. रतनचन्द भारिल्ल

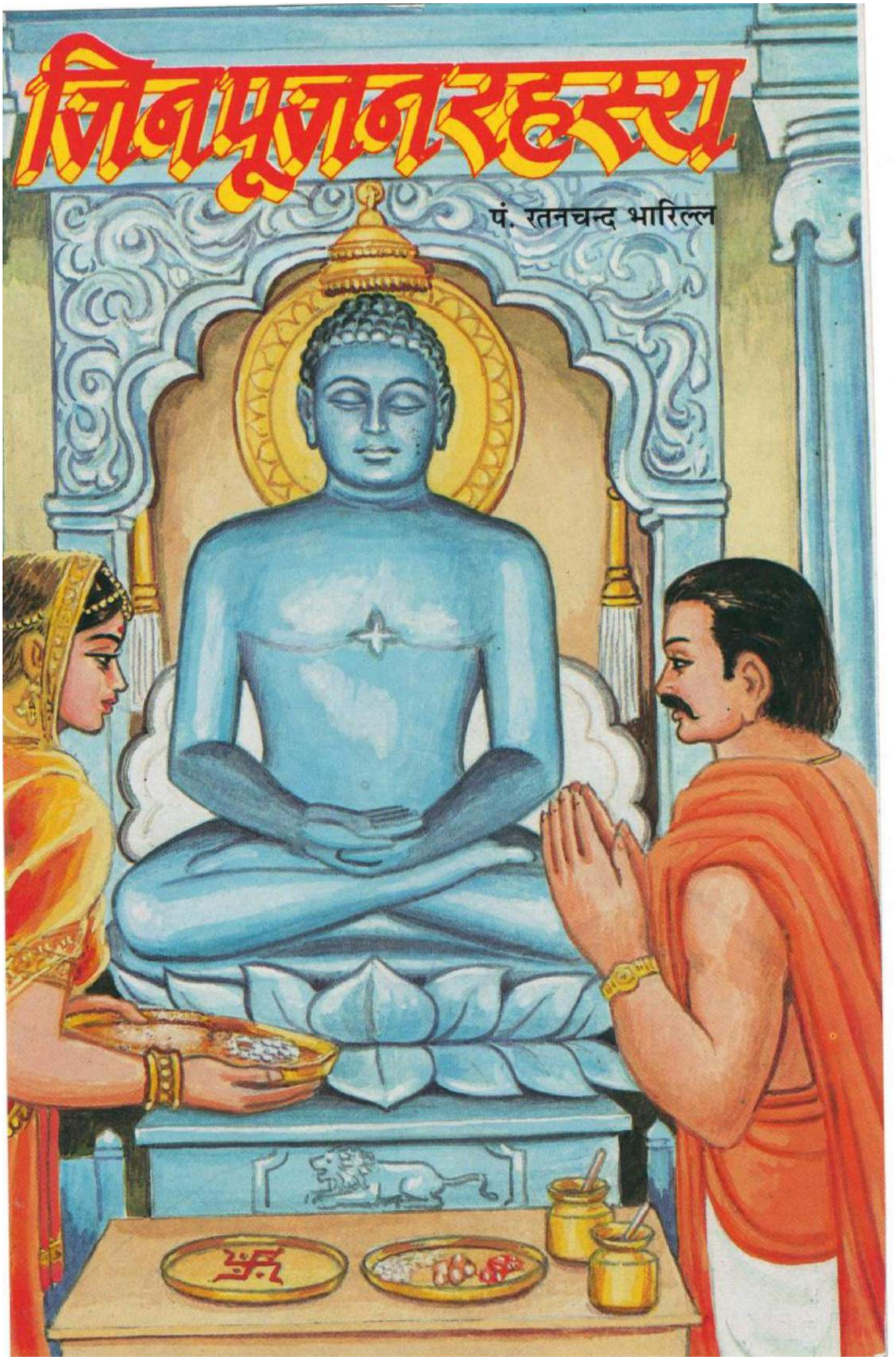

(भगवान महावीर २६ सौ वाँ जन्मकल्याणक वर्ष)

जिनपूजन रहस्य

(शोधपूर्ण निबन्ध)

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

●**हिन्दी :**

प्रथम नौ संस्करण : 50 हजार 100
(11 मई, 1986 से अद्यतन)

●दसवाँ संस्करण : 5 हजार
(1 जनवरी, 2002)

●'वृहद् जिनवाणी' की
की प्रस्तावना के रूप में : 35 हजार 800
(11 मई, 1986 से अक्टू. 1998)

●'जिनेन्द्र अर्चना' की
प्रस्तावना के रूप में : 70 हजार
(2 अप्रैल, 1995 से 2000)

●जैनपथप्रदर्शक में सम्पादकीय
के रूप में : 3 हजार

●**गुजराती :**
दो संस्करण : 10 हजार 100
(15 अगस्त, 1992)

●**मराठी :**
प्रथम संस्करण : 5 हजार 100
(29 जुलाई, 1988)

●**कन्नड़ :**
प्रथम संस्करण : 5 हजार 100
(26 जनवरी, 1988)

महायोग : 1 लाख 84 हजार 200

मूल्य : चार रुपये

मुद्रक :
जयपुर प्रिंटर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड़
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. स्व. मनोजकुमारजी जैन की पुण्य स्मृति में, बिजौलिया	1150.00
2. श्री कन्हैयालालजी लुहाड़िया, बिजौलिया	1200.00
3. श्रीमती निर्मला पाटनी, कलकत्ता	1100.00
4. श्रीमती निधि पाटनी, कलकत्ता	1100.00
5. श्री अशोकजी कासलीवाल, कलकत्ता	1100.00
6. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	251.00
7. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	251.00
8. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
योग	6403.00

क्या/कहाँ

मंगलाचरण	7
जिन पूजन महिमा	8
देवपूजा : क्या/क्यों/कैसे ?	9
निश्चय पूजा	16
व्यवहार पूजा : भेद-प्रभेद	17
पूजन विधि और उसके अंग	20
अभिषेक या प्रक्षाल	23
पूजन के लिए प्रासुक अष्टद्रव्य	25
सिद्धचक्र मण्डल विधान : एक अनुशीलन	37
नवग्रह विधान : एक संभावना यह भी	42
'आरती' का अर्थ	46
स्तुति (स्तोत्र) साहित्य	49
जिनपूजन के संदर्भ में श्रीकानजीस्वामी के उद्गार एवं अभिमत	51

प्रकाशकीय

(दसवाँ संस्करण)

पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल कृत 'जिनपूजन रहस्य' का यह दसवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आचार्य श्री विद्यानन्दजी ने इसकी जो मुक्त कण्ठ से रामलीला मैदान, जयपुर की भरी सभा में प्रशंसा की, उससे इसकी माँग और भी अधिक बढ़ गई है।

पूजन तो हम आप सभी करते हैं; न सही प्रतिदिन, कभी-कभी ही सही, पर करते तो हैं ही; किन्तु जिनपूजन का रहस्य कितने लोग जानते हैं ? कितने लोग जानते हैं पूजन क्या है, वह कितने प्रकार की होती है ? पूजन किसकी की जाती है, क्यों की जाती है, कैसे की जाती है ? पूज्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

इन सब प्रश्नों के सटीक एवं सप्रमाण उत्तर जानने के लिए आप इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये, क्योंकि इसमें उक्त सभी बातों पर गहराई से विचार किया गया है।

इस कृति का प्रणयन 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' की प्रस्तावना के रूप में हुआ था, जिसे पढ़कर मुझे लगा कि इस कृति का प्रकाशन स्वतंत्र रूप से भी होना चाहिये। आपको जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि अबतक यह कृति एक लाख चौरासी हजार दो सौ की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी है।

पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल एक शान्त प्रकृति के अध्यात्म-रुचिसम्पन्न विद्वान हैं, जो बिना किसी प्रपंच में उलझे निरन्तर जिनवाणी माता की सेवा में रत रहते हैं, तत्त्वप्रचार की गतिविधियों में चुपचाप महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहते हैं। वे डॉ. भारिल्ल के अनन्य सहयोगी हैं।

हमारे शिक्षण एवं प्रशिक्षण शिविरों के वरिष्ठतम प्रशिक्षक-अध्यापक तो आप हैं ही। पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा सम्पादित अध्यात्म क्रान्ति का जो प्रचार-प्रसार आज जयपुर के माध्यम से हो रहा है, उसमें भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आशा है, आपकी यह कृति समाज को सम्यक् दिशा देगी।

1 जनवरी, 2002

- नेमीचन्द पाटनी

लेखक की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

मौलिक कृतियाँ -	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८० हजार	१०.००
३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१५.००
४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,)	७१ हजार २००	६.००
८. पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
९. द्रव्यदृष्टि		४.००
१०. बालबोध पाठमाला भाग १ (हि.म.गु.क.त.बं.अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
११. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (१० हजार)		३.००
१२. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)		४.००
१३. कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य (हिन्दी)		१.००
१४. लीक छोड़ ही चलत है : शायर, सिंह, सपूत	(पुस्तकालय संस्करण)	

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ -

१५ से २५. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
२६. सम्यग्दर्शन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	१०.००
२७. भक्तामर प्रवचन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	१०.००
२८. समाधिशतक प्रवचन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	२०.००
२९. पदार्थ विज्ञान	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	३.००
३०. गागर में सागर	(प्रवचन : डॉ. भारिल्ल)	७.००
३१. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	(भाषण : डॉ. भारिल्ल)	२.५०
३२. गुणस्थान-विवेचन	(ब्र. यशपाल जैन)	१५.००
३३. अहिंसा के पथ पर	(कहानियाँ : जयन्तिलाल)	६.००
३४. विचित्र महोत्सव	(कहानियाँ : जयन्तिलाल)	१०.००

कुछ महत्त्वपूर्ण वृहदाकार विशेषांक (जैनपथप्रदर्शक) -

३५. समयसार विशेषांक (१९८९)	(४४ लेखों का अनुपम संग्रह)	१०.००
३६. आ. कुन्दकुन्द विशेषांक (१९८८)	(५४ लेखों का अनुपम संग्रह)	८.००
३७. कानजीस्वामी विशेषांक (१९९०)	(५४ लेखों का अनुपम संग्रह)	८.००
३८. कवि बनारसीदास विशेषांक (१९८७)	(३१ लेखों का अनुपम संग्रह)	५.००
३९. बाबूभाई स्मृति विशेषांक (१९८५)	(११२ लेखों का अनुपम संग्रह)	५.००
४०. खीमचन्दभाई स्मृति विशेषांक (१९८४)	(४० लेखों का अनुपम संग्रह)	३.००

अपनी बात

जब 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' के प्रकाशन की रूपरेखा बन रही थी और उसमें प्रकाशनार्थ पूजन-पाठ विषयक विविध विषयों का चयन किया जा रहा था, तब मेरे मन में एक विचार आया था कि पूजन के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या धारणायें और भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं; एतदर्थ किसी प्रबुद्ध विचारशील विद्वान लेखक द्वारा जिनपूजन के सम्बन्ध में एक ऐसी रहस्योद्घाटक, आगमसम्मत एवं युक्तिसंगत, सरल, संक्षिप्त, सारभूत प्रस्तावना भी लिखी जानी चाहिये।

ऐसी प्रस्तावना से वे लाखों लोग तो लाभान्वित होंगे ही, जो प्रतिदिन पूजन-पाठ तो करते हैं, किन्तु तद्विषयक अनभिज्ञता के कारण पूजन-पाठ के असली लाभ से वंचित हैं; साथ ही उनके सम्पर्क में आनेवाले अन्य लोग भी लाभान्वित होंगे।

जिनवाणी संग्रह के संकलन की सार्थकता एवं अर्थ की अर्थवत्ता-उपयोगिता इसी में है कि पूजन करनेवाले पूजन का स्वरूप, पूजन करने का प्रयोजन और पूजन की प्रक्रिया क्या है ? आदि बातों को भली-भाँति जानें।

यह काम श्रमसाध्य तो था ही, समयसाध्य भी था। मैं चाहता था कि यह कार्य डॉ. भारिल्ल के द्वारा हो; पर उनके पास समय ही नहीं था; अत: मैंने अपने इस विचार को अपने मन तक ही सीमित रखा, वाणी तक लाया ही नहीं।

पर मुझे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि मेरे प्रिय छात्र प्रतिष्ठाचार्य बाल ब्र. अभिनन्दनकुमारजी शास्त्री एवं ब्र. जतीशचन्द्र शास्त्री मुझसे विचार-विमर्श किए बिना ही अपने सहयोगियों से यह कहकर डेढ़-दो माह को चले गये कि 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' की प्रस्तावना बड़े दादा से (मुझसे) लिखानी है। पता नहीं वे मेरे मनोगत भावों का आभास उन्हें कैसे हो गया और यह कार्यभार वे मेरे ऊपर डालकर ही चले गये।

उपायान्तर के अभाव में यह काम मुझे ही करना पड़ा है। जो भी है, जैसा भी है, आपके समक्ष है।

यद्यपि मैंने अपने चिन्तित विषय को पूरे प्रयत्न से आगमसम्मत देने का प्रयास किया है तथा प्रथम संस्करण के प्रकाशन के पूर्व चिरंजीव डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को भी इसे दिखा लिया था, तथापि पाठकों से भी प्रथम संस्करण में यह अपेक्षा की गई थी कि यदि कोई सुझाव हो तो पाठकगण अवश्य सुझायें, ताकि अगले संस्करण में आवश्यकतानुसार सुधार किया जा सके।

हमें प्रसन्नता है कि पण्डित रतनलालजी कटारिया केकड़ी एवं राजमलजी जैन जयपुर के अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त हुए। उनका यथासंभव उपयोग कर इस पुस्तक को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयास किया गया है।

यद्यपि इसका प्रणयन 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' की प्रस्तावना के निमित्त से हुआ था, तथापि पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने इसे पृथक् रूप से प्रकाशित करना आवश्यक समझा, इससे मेरे उत्साह में भी वृद्धि हुई है।

यदि इस प्रयास से पाठकों को थोड़ा भी लाभ मिला तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

दिनांक 1 जनवरी, 2002 **- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल**

समन्तभद्र का सन्देश

देवाधिदेव चरणे, परिचरणं सर्व दुःख निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥१९॥

देवादिदेव अरहंत के चरणों की पूजन समस्त दुःखों का नाश करनेवाली है तथा इन्द्रियों के विषयों की कामना का नाश करके मोक्ष होने रूप सुख की कामना को पूर्ण करनेवाली है। इसलिए अन्य की आराधना छोड़कर जिनेन्द्र की ही नित्य आराधना करो।

- पं. सदासुखदासजी : रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, पृष्ठ 205

जिनपूजन रहस्य

मंगलाचरण

देव- वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु, जगतबन्धु जिननाम।
चिदानन्द चैतन्यमय, शिवस्वरूप सुखधाम॥

जो मैं वह परमातमा, जो जिन सो मम रूप।
चिदानन्द चैतन्यमय, सत् शिव शुद्ध स्वरूप॥

सत् स्वरूप चैतन्यघन, चिदानन्द सुखसिन्धु।
अवगाहन जो जन करें, पार होंय भवसिन्धु॥

जिन-सा निज को जानकर, जो ध्याते निज रूप।
वे पाते अरहन्त पद, भोगें सुख भरपूर॥

शास्त्र- जिनवाणी नित बोधनी, सुलभ रहै दिन-रैन।
वीतरागता में निमित्त, वीतराग जिन-बैन॥

गुरु- निर्विकार निर्ग्रन्थ मुनि, यथा जिनेश्वर बिम्ब।
बाहर की यह नग्नता, अन्तर का प्रतिबिम्ब॥

निश-दिन निज का चिन्तवन, चर्चा निज की होय।
चर्या में निज ही प्रमुख, चाह अन्य नहिं कोय॥

जिनपूजन महिमा

जिनवर के दर्शन-पूजन से, पापों का पुंज प्रलय होता।
श्रुत के वचनामृत सुनने से, विपरीत-विभाव विलय होता॥

घन-रूप दिगम्बर दर्शन से, मन-रूप मयूर मुदित होता।
निजनाथ निरंजन अनुभव से, समकित का सूर्य उदित होता॥

निज वैभव की महिमा में प्रभु ! पर वैभव की ममता भागी।
निज आतम की अनुभूति से, अन्तर की ज्ञान-कला जागी॥

जिन दर्शन से यह भान हुआ, मुझ में है तेरी-सी शक्ति।
इस कारण तेरे चरणों में, प्रभुवर ! उमड़ी मेरी भक्ति॥

पूजन से प्राप्त पुण्य को प्रभु ! मैं यहीं छोड़कर जाऊँगा।
पूजन-प्रसाद में मैं केवल, चित की प्रसन्नता चाहूँगा॥

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभुवर ! ज्ञाता-दृष्टा बन जाऊँगा।
सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का, क्षयकर मैं शिव-पद पाऊँगा॥

रहस्य जो जन जानते, जिन पूजन का बन्धु।
जिन-सा निज को जानकर, प्राप्त करें सुख-सिन्धु॥
प्राप्त करें सुख-सिन्धु, निजातम को पिछान कर।
तजते हैं परवस्तु, स्व-पर का भेदज्ञान कर॥
रमते हैं निजमांहि पाते सुख-शांति सहज।
तरते वे भव-सिन्धु, जो जाने पूजन रहस॥

– रतनचन्द भारिल्ल

जिनपूजन रहस्य

देवपूजा : क्या / क्यों / कैसे ?

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ॥ [१]

देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान— ये छह आवश्यक कार्य गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए ।"

यह पावन आदेश आचार्य पद्मनन्दि का है । इसमें देवपूजा को प्रथम स्थान प्राप्त है ।

वह देव पूजा क्या है ? कितने प्रकार की है ? किस देव की की जाती है ? क्यों की जाती है ? कैसे की जाती है ? पूजन का वास्तविक प्रयोजन क्या है ? और मोक्षमार्ग में इसका क्या स्थान है ? आदि बातें सभी धर्मप्रेमी बन्धुओं को जानने योग्य हैं ।

पूजन शब्द का अर्थ आज बहुत ही संकुचित हो गया है । पूजन को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है ; जबकि पूजन में पंच परमेष्ठी की वंदना, नमस्कार, स्तुति, भक्ति तथा जिनवाणी की सेवा व प्रचार-प्रसार करना, जैनधर्म की प्रभावना करना, जिनमन्दिर एवं जिनप्रतिमा का निर्माण करना-कराना आदि अनेक कार्य सम्मिलित हैं ।

जिनमार्ग में सच्ची श्रद्धा ही वास्तविक जिनपूजन है ।

भक्ति और पूजा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अपराजित लिखते हैं :—

"का भक्ति पूजा ? अर्हदादि गुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा- द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्य पूजा

---

१. पद्मनन्दि पंचविंशति (उपासक संस्कार), पृष्ठ १२८, श्लोक सं. - ७ ।

अभ्युत्थान प्रदक्षिणीकरण प्रणमनादिका कायक्रिया च वाचा गुण संस्तवनं च। भावपूजा मनसा तद् गुणानुस्मरणं।"[१]

प्रश्न– भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर– अरहन्त आदि के गुणों में अनुराग भक्ति है। पूजा के दो प्रकार हैं– द्रव्यपूजा और भावपूजा।

अरंहत आदि का उद्देश्य करके गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि अर्पित करना द्रव्यपूजा है तथा उनके आदर में खड़े होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम करना आदि शारीरिक क्रिया और वचन से गुणों का स्तवन भी द्रव्यपूजा है तथा मन से उनके गुणों का स्मरण भावपूजा है।"

द्रव्यपूजा व भावपूजा के सम्बन्ध में पं. सदासुखदासजी लिखते हैं :–

"अरहंत के प्रतिबिम्ब का वचन द्वार से स्तवन करना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना, अंजुलि मस्तक चढ़ाना, जलचन्दनादिक अष्टद्रव्य चढ़ाना सो द्रव्यपूजा है।

अरहंत के गुणों में एकाग्र चित्त होकर अन्य समस्त विकल्प जाल छोड़कर गुणों में अनुरागी होना तथा अरहंत के प्रतिबिम्ब का ध्यान करना सो भावपूजा है।"[२]

उक्त कथन में एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि – अष्टद्रव्य से की गई पूजन तो द्रव्यपूजन है ही, साथ ही देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना करना, नमस्कार करना, प्रदक्षिणा देना, स्तुति करना आदि क्रियायें भी द्रव्यपूजन हैं।

जिनेन्द्र भगवान की पूजन भगवान को प्रसन्न करने के लिए नहीं, अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए की जाती है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान तो वीतरागी

---

१. भगवती आराधना, गाथा ४६ की विजयोदया टीका।

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११९ की टीका, पृष्ठ २०८।

होने से किसी से प्रसन्न या नाराज होते ही नहीं हैं। हाँ, उनके गुणस्मरण से हमारा मन अवश्य पवित्र हो जाता है।

इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरितान्जनेभ्यः॥ [१]

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है, तथा वैर रहित हैं, अतः निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है; तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।"

कुछ लोग कहते हैं कि — यद्यपि भगवान कुछ देते नहीं हैं, तथापि उनकी भक्ति से कुछ न कुछ मिलता अवश्य है। इसप्रकार वे जिनपूजा को प्रकारान्तर से भोगसामग्री की प्राप्ति से जोड़ देते हैं; किन्तु उक्त छन्द में तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि — उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा-जिनभक्ति का सच्चा फल है। ज्ञानीजन तो अशुभभाव व तीव्रराग से बचने के लिए ही भक्ति करते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

इसप्रकार का राग मुख्यरूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्षवाले अज्ञानियों को होता है। उच्चभूमिका में स्थिति न हो तो तब तक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्रराग्ज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।" [२]

---

१. स्वयंभू स्तोत्र छन्द ५७।

२. पंचास्तिकाय, गाथा १३६ की टीका।

उक्त दोनों कथनों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि आचार्य अमृतचन्द्र तो कुस्थान में राग के निषेध और तीव्रराग ज्वर निवारण की बात कह कर नास्ति से बात करते हैं और उसी बात को आचार्य समन्तभद्र चित्त की निर्मलता की बात कहकर अस्ति से कथन करते हैं।

इसप्रकार पूजन एवं भक्ति का भाव मुख्यरूप से अशुभराग व तीव्रराग से बचा कर शुभराग व मंदरागरूप निर्मलता प्रदान करता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति और पूजन का भाव मुख्यरूप से शुभभाव है, तथापि ज्ञानी धर्मात्मा मात्र शुभ की प्राप्ति के लिए पूजन भक्ति नहीं करता, वह तो जिनेन्द्र की मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान जिनेन्द्र देव को एवं जिनेन्द्र देव के माध्यम से निज परमात्मस्वभाव को जानकर, पहिचान कर, उसी में रम जाना, रम जाना चाहता है।

तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारणों में जिनबिम्बदर्शन को भी एक कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनपूजा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ सम्यक्त्वोत्पत्ति, भेदविज्ञान, आत्मानुभूति एवं वीतरागता की वृद्धि में भी निमित्तभूत है। स्तुतियों और भजनों की निम्नांकित पंक्तियों से यह बात स्पष्ट है—

"तुम गुण चिन्तत निज-पर विवेक प्रगटै विघटें आपद अनेक।

× × ×

जय परम शान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।[१]

हे भगवान ! आपके निर्मल गुणों के चिन्तन-स्मरण करने से अपने व पराये की पहचान हो जाती है, निज क्या है और पर क्या है— ऐसा भेदज्ञान प्रकट हो जाता है और उससे अनेक आपत्तियों का विनाश हो जाता है।

---

१. पण्डित दौलतराम कृत देवस्तुति।

हे प्रभो ! आपकी परम शान्त मुद्रा भव्य जीवों को आत्मानुभूति में निमित्त कारण है ।"

इस सन्दर्भ में निम्नांकित भजन की पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

"निरखत जिनचन्द्र-वदन स्व-पद सुरुचि आई ।
प्रगटी निज-आन की पिछान ज्ञानभान की
कला उदोत होत काम यामनी पलाई ॥ निर. ॥ [१]

जिनेन्द्र भगवान का भक्त जिनप्रतिमा के दर्शन के निमित्त से हुई अपूर्व उपलब्धि से भाव विभोर होकर कहता है कि – जिनेन्द्र भगवान के मुखचन्द्र के निरखते ही मुझे अपने स्वरूप को समझने की रुचि जागृत हो गई । इतना ही नहीं, अपितु अपने व पराये की पहचान भी प्रगट हो गई, तथा ज्ञानरूपी सूर्य की कला के प्रगट होने से मेरा मोह एवं काम विकार भी पलायन कर गया है ।"

ज्ञानीजन यद्यपि लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए जिनेन्द्र-भक्ति कदापि नहीं करते, तथापि मूल प्रयोजनों की पूर्ति के साथ-साथ उनके लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति भी होती है, क्योंकि शुभभाव और मन्दराग की स्थिति में नहीं चाहते हुए भी जो पुण्य बंधता है, उसके उदयानुसार यथासमय थोड़ी-बहुत लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त होतीं ही हैं । लौकिक अनुकूलता का अर्थ मात्र अनुकूल भोगसामग्री की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु धर्मसाधन और आत्मसाधन के अनुकूल वातावरण की प्राप्ति भी है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का भक्त भोगों का भिखारी तो होता ही नहीं है, वह भगवान से भोगसामग्री की माँग तो करता ही नहीं है ; साथ में उसकी भावना मात्र शुभभाव की प्राप्ति की भी नहीं होती, वह तो एकमात्र वीतरागभाव का ही इच्छुक होता है ; तथापि उसे पूजन और भक्ति

---

१. पण्डित दौलतराम कृत आध्यात्मिक भजन ।

के काल में सहज हुए शुभभावानुसार पुण्य-बंध भी होता है और तदनुसार आत्मकल्याण की निमित्तभूत पारमार्थिक अनुकूलताएँ व अन्य लौकिक अनुकूलताएँ भी प्राप्त होतीं हैं।

पूजा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है। पूजा में पूज्य, पूजक एवं पूजा– ये तीन अंग प्रमुख हैं। जिसतरह सफल शिक्षा के लिए सुयोग्य शिक्षक, सजग शिक्षार्थी एवं सार्थक शिक्षा का सु-समायोजन आवश्यक है; उसी तरह पूजा का पूरा फल प्राप्त करने के लिए पूज्य, पूजक एवं पूजा का सुन्दर समायोजन जरूरी है। इसके बिना पूजा की सार्थकता संभव नहीं है। पूज्य सदृश पूर्णता एवं पवित्रता प्राप्त करना ही पूजा की सार्थकता है।

जब पूजक पूजा करते समय पूज्य परमात्मा के गुणगान करता है, उनके गुणों का स्मरण करता है, उनके परमात्मा बनने की प्रक्रिया पर विचार करता है, परमात्मा के जीवनदर्शन का आद्योपान्त अवलोकन करता है, अरहंत, सिद्ध और साधुओं के स्वरूप से अपने स्वभाव को समझने का प्रयत्न करता है; तब उसे सहज ही समझ में आने लगता है कि – "अहो ! मैं भी तो स्वभाव से परमात्मा की भाँति ही अनन्त असीम शक्तियों का संग्रहालय हूँ, अनन्त गुणों का गोदाम हूँ, मेरा स्वरूप भी तो सिद्ध सदृश ही है। मैं स्वभाव की सामर्थ्य से सदा भरपूर हूँ। मुझ में परलक्ष्यी ज्ञान के कारण जो मोह-राग-द्वेष हो रहे हैं, वे दुःखरूप हैं, इसप्रकार सोचते-विचारते उसका ध्यान जब भगवान की पूर्व पर्यायों पर जाता है तब उसे ख्याल आता है कि – "जब शेर जैसा क्रूर पशु भी कालान्तर में परमात्मा बन सकता है तो मैं क्यों नहीं बन सकता ? सभी पूज्य परमात्मा अपनी पूर्व पर्यायों में तो मेरे जैसे ही पामर थे ! जब वे अपने त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर परमात्मा बन गये तो मैं भी अपने स्वभाव के आश्रय से पूर्णता व पवित्रता प्राप्त कर परमात्मा बन सकता हूँ।" इसप्रकार की चिन्तनधारा ही भक्त को जिनदर्शन से निजदर्शन कराती है, यही आत्मदर्शन होने की प्रक्रिया है, पूजन की सार्थक प्रक्रिया है।

यद्यपि पूजा स्वयं में एक रागात्मक वृत्ति है, तथापि वीतराग देव की पूजा करते समय पूजक का लक्ष्य यदा-कदा अपने वीतराग स्वभाव की ओर भी झुकता है, बस यही पूजा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

पूजा में शुभराग की मुख्यता रहने से पूजक अशुभरागरूप तीव्रकषायादि पाप परिणति से बचा रहता है तथा वीतरागी परमात्मा की उपासना से सांसारिक विषय-वासना के संस्कार भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और स्वभाव-सन्मुखता की रुचि से आत्मबल में भी वृद्धि होती है; क्योंकि रुचि अनुयायी वीर्य स्फुरित होता है। अन्ततोगत्वा पूजा के रागभाव का भी अभाव करके पूजक वीतराग सर्वज्ञ पद प्राप्त कर स्वयं पूज्य हो जाता है। इसी अपेक्षा से जिनवाणी में पूजा को परम्परा से मुक्ति का कारण कहा गया है।"[१]

मनोरथ पूर्ति

यह बात जुदी है कि पंचपरमेष्ठी के निष्काम उपासकों को भी सातिशय पुण्य बंध होने से लौकिक अनुकूलतायें भी स्वतः मिलती देखी जाती हैं तथा वे उन अनुकूलताओं को एवं सुख-सुविधाओं को स्वीकार करते हुए उनका उपभोग करते हुए भी देखे जाते हैं, किन्तु सहज प्राप्त उपलब्धियों को स्वीकार करना अलग बात है और उनकी कामना करना अलग बात। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है।

आतिथ्य-सत्कार में नाना मिष्ठान्नों का प्राप्त होना और उन्हें सहज स्वीकार कर लेना जुदी बात है और उनकी याचना करना जुदी बात है। दोनों को एक नजर से नहीं देखा जा सकता। ज्ञानी अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण पुण्योदय से प्राप्त अनुकूलता के साथ समझौता तो सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु वे पुण्य के फल की भीख भगवान से नहीं माँगते। **– णमोकार महामंत्र पृष्ठ ७४**

१. मुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराजवर (चौबीस तीर्थङ्कर पूजा)

निश्चयपूजा

निश्चयनय से तो पूज्य-पूजक में कोई भेद ही दिखाई नहीं देता। अतः इस दृष्टि से तो पूजा का व्यवहार ही संभव नहीं है। निश्चयपूजा के सम्बन्ध में आचार्यों ने जो मंतव्य प्रगट किये हैं, उनमें कुछ प्रमुख आचार्यों के विचार द्रष्टव्य हैं–

आचार्य योगीन्दुदेव लिखते हैं–

"मणु मिलियय परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूबाहँ पूज्ज चढ़ावहु कस्स॥[१]

विकल्परूप मन भगवान आत्मा से मिल गया, तन्मय हो गया और परमेश्वरस्वरूप भगवान आत्मा भी मन से मिल गया। जब दोनों ही समरस हो गये तो अब कौन/किसकी पूजा करे ? अर्थात् निश्चयदृष्टि से देखने पर पूज्य-पूजक का भेद ही दिखाई नहीं देता तो किसको अर्घ्य चढ़ाया जावे ?"

इसीतरह आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं–

"यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥[२]

स्वभाव से जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं।"

इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अभेदनय से इसप्रकार कहा है–

"अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं॥[३]

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु– ये जो पंच परमेष्ठी हैं; वे आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्मा ही की अवस्थायें हैं, इसलिए मेरे आत्मा ही का मुझे शरण है।"

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने आत्म में ही उपास्य-उपासक भाव घटित करना निश्चयपूजा है। ●

---

१. परमात्मप्रकाश १/१२३/२ २. समाधि तंत्र ३१ ३. अष्ट पाहुड : मो. पा. मूल श्लोक १०४

व्यवहारपूजा : भेद-प्रभेद

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ; पूज्य, पूजक, पूजा ; नाम, स्थापना आदि ; तथा इन्द्र, चक्रवर्ती आदि द्वारा की जाने वाली पूजा की अपेक्षा व्यवहार पूजन के अनेक भेद-प्रभेद हैं ।

पूजा को द्रव्यपूजा और भावपूजा में विभाजित करते हुए आचार्य अमितिगति उपासकाचार में लिखते हैं—

"वचो विग्रह संकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥[१]

वचन और काय को अन्य व्यापारों से हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करने को द्रव्यपूजा कहते हैं और मन की नाना प्रकार से विकल्पजनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान तथा गुण चिन्तनादि द्वारा स्तुत्य में लीन करने को भावपूजा कहते हैं ।"

आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि श्रावकाचार में द्रव्यपूजा के निम्नांकित तीन भेद किये हैं[२] —

(१) सचित्त पूजा (२) अचित्त पूजा (३) मिश्र पूजा ।

१. सचित्त पूजा– प्रत्यक्ष उपस्थित समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र भगवान और निर्ग्रन्थ गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सचित्त द्रव्य पूजा है ।

२. अचित्त पूजा– तीर्थंकर के शरीर (प्रतिमा) की और द्रव्यश्रुत (लिपिबद्ध शास्त्र) की पूजन करना अचित्त द्रव्य पूजा है ।

३. मिश्र पूजा– उपर्युक्त दोनों प्रकार की पूजा करना मिश्रद्रव्य पूजा है ।

---

१. स्तुतिविद्या, प्रस्तावना, पृष्ठ १० : जुगलकिशोर मुख्तार ।

२. अमितगति श्रावकाचार, १२-१३ एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ४४९-५०

सचित्त फलादि से पूजन करने वालों को उपर्युक्त कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसमें अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सचित्तता सामग्री की नहीं, आराध्य की होना चाहिए। सचित्त माने साक्षात् सशरीर जिनेन्द्र भगवान और अचित्त माने उनकी प्रतिमा।

महापुराण में द्रव्यपूजा के पाँच प्रकार बताये हैं[१] —

१. सदार्चन (नित्यमह) २. चतुर्मुख ३. कल्पद्रुम ४. आष्टाह्निक ५. ऐन्द्रध्वज

१. **सदार्चन पूजा–** इसे नित्यमह पूजा या नित्यनियम पूजा भी कहते हैं। यह चार प्रकार से की जाती है।

(अ) अपने घर से अष्ट द्रव्य ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना।

(आ) जिन प्रतिमा व जिन मन्दिर का निर्माण करना।

(इ) दानपत्र लिखकर ग्राम-खेत आदि का दान देना।

(ई) मुनिराजों को आहार दान देना।

२. **चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) पूजा–** मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा महापूजा करना।

३. **कल्पद्रुम पूजा–** चक्रवर्ती राजा द्वारा किमिच्छिक दान देने के साथ जिनेन्द्र भगवान का पूजोत्सव करना।

४. **आष्टाह्निक पूजा–** आष्टाह्निक पर्व में सर्वसाधारण के द्वारा पूजा का आयोजन करना।

५. **ऐन्द्रध्वजपूजा–** यह पूजा इन्द्रों द्वारा की जाती है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की पूजनों में हम लोग सामान्यजन प्रतिदिन केवल सदार्चन (नित्यमह) का 'अ' भाग ही करते हैं। शेष पूजनें भी यथा-अवसर यथायोग्य व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं।

---

१. महापुराण श्रावकाचार सर्ग, ३८/२६-३३

वसुनन्दि श्रावकाचार में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से द्रव्यपूजा के छह भेद कहे हैं–

१. नाम पूजा– अरहंतादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्पक्षेपण किये जाते हैं, वह नामपूजा है ।

२. स्थापना पूजा– यह दो प्रकार की है, सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना । आकारवान वस्तु में अरहंतादि के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है तथा अक्षतादि में अपनी बुद्धि से यह परिकल्पना करना कि यह अमुक देवता है, असद्भाव स्थापना है । असद्भाव स्थापना मूर्ति की उपस्थिति में नहीं की जाती ।[१]

३. द्रव्य पूजा– अरहंतादि को गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना तथा उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, तीन प्रदक्षिणा देना आदि शारीरिक क्रियाओं तथा वचनों से स्तवन करना द्रव्यपूजा है ।

४. भाव पूजा– परमभक्ति से अनन्त चतुष्टयादि गुणों के कीर्तन द्वारा त्रिकाल वन्दना करना निश्चय भावपूजा है । पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करना तथा जिनेन्द्र का स्तवन अर्थात् गुणस्मरण करना भी भाव पूजा है तथा पिण्डस्थ, पदस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान को भी भावपूजा कहा गया है ।

५. क्षेत्र पूजा– तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमि में स्थित तीर्थ क्षेत्रों की पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना क्षेत्र पूजा है ।

६. काल पूजा– तीर्थंकरों की पंचकलयाणक तिथियों के अनुसार पूजन करना तथा पर्व के दिनों में विशेष पूजायें करना काल पूजा है ।[२]

जिनपूजा में अन्तरंग भावों की ही प्रधानता है , क्योंकि वीतरागी होने से भगवान को तो पूजा से कोई प्रयोजन ही नहीं है । पूजक के जैसे परिणाम होंगे, तदनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है ।

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३८३-३८४

२. भगवती आराधना, गाथा ४६ विजयोदया टीका एवं वसुनन्दि श्रावकाचार, ४५६ से ४५८

पूजन विधि और उसके अंग

पूजन विधि और उसके अंगों में देश काल और वातावरण के अनुसार यत्किंचित् परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु उन परिवर्तनों से पूजन की मूलभूत भावना, प्रयोजन और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आया। उद्देश्य में अन्तर आने का कारण पूजन की विभिन्न पद्धतियाँ नहीं, बल्कि तद्विषयक अज्ञान होता है। जहाँ पूजन ही साध्य समझ ली गई हो या किसी विधि विशेष को अपने पंथ की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया गया हो, वहाँ मूलभूत प्रयोजन की पूर्ति की संभावनायें क्षीण हो जाती हैं।

वर्तमान पूजन-विधि में पूजन के कहीं पाँच अंगों का और कहीं छह अंगों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही प्रकार के अंगों में कुछ-कुछ नाम साम्य होने पर भी व्याख्याओं में मौलिक अन्तर है। दोनों ही मान्यतायें व विधियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। अतः दोनों ही विधियाँ विचारणीय हैं।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में पूजन के पाँच अंगों का निर्देश किया है।[१] इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं :–

"व्यवहार में पूजन के पाँच अंगनि की प्रवृत्ति देखिये है –

(१) आह्वानन (२) स्थापन (३) संन्निधापन या संन्निधिकरण (४) पूजन (५) विसर्जन।

"सो भावनि के जोड़वा वास्ते आह्वाननादिकनि में पुष्पक्षेपण करिये हैं। पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानैं हैं। ए तो आह्वाननादिकनि का संकल्प तैं पुष्पांजलि क्षेपण है। पूजन में पाठ रच्या होय तो स्थापना करले, नाहीं होय तो नहीं करे। अनेकान्तिनि के सर्वथा पक्ष नाहीं। भगवान परमात्मा तो सिद्ध लोक में हैं, एक प्रदेश भी स्थान तैं चले नाहीं, परन्तु तदाकार प्रतिबिम्ब सूँ ध्यान जोड़ने के अर्थि साक्षात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु रूप का प्रतिमा में निश्चय करि प्रतिबिम्बि में ध्यान स्तवन करना।"[२]

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार पण्डित सदासुखदासजी, श्लोक ११९, पृष्ठ २१४

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११९ की टीका पृष्ठ २१४

इसी सन्दर्भ में जैन निबन्ध रत्नावलि का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है—

"सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में और पद्मनन्दि पंचविंशति में अर्हदादि की पूजा में सिर्फ अष्ट द्रव्यों से पूजा तो लिखी है, किन्तु आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण व विसर्जन नहीं लिखा है। ये सर्वप्रथम पं. आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ में और अभिषेक पाठ में मिलते हैं, किन्तु अर्हंतपूजा में विसर्जन उन्होंने भी नहीं लिखा। आगे चलकर इन्द्रनन्दि ने अर्हंतादि का विसर्जन भी लिख दिया है।

इसी श्रृंखला में इसी काल के आस-पास यशोनन्दि कृत संस्कृत की पचंपरमेष्ठी पूजन में भी पूजन के चार अंग ही मिलते हैं, विसर्जन उसमें भी नहीं है।"[१]

इसप्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों की पूजन पद्धतियों में पूजन के उपर्युक्त पाँचों अंगों का यत्किंचित् फेर-फार के साथ प्रचलन पाया जाता है।

यद्यपि सिद्धलोक में विराजमान वीतराग भगवान के पूजन में तार्किक दृष्टि से विचार करने पर इनका औचित्य प्रतीत नहीं होता, परन्तु भक्तिभावना के स्तर का यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य व व्यवहारिक सत्य है। यह पूजन पद्धति की एक सहज प्रक्रिया है, जो भावनाओं से ही अधिक सम्बन्ध रखती है। पूजा में पूजक के मन में पूज्य के प्रति एक ऐसी सहज परिकल्पना या मनोभावना होती है कि मानों पूज्य मेरे सामने ही खड़े हैं, अतः यह आह्वाननादि के द्वारा 'ॐ ह्रीं.....अत्र अवतर-अवतर संवौषट्, अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट्' बोलकर उन्हें बुलाने, सम्मान सहित बिठाने तथा सन्निकट लाने की भावना भाता है, मनमन्दिर के सिंहासन पर बिठाकर पूज्य की पूजा-अर्चना करना चाहता है।

---

१. जैन निबन्ध रत्नावली : मिलापचन्द रतनलाल कटारिया, पृष्ठ २६५

जिनमन्दिर में तदाकार स्थापना के रूप में जिनप्रतिमा विद्यमान होती है। उसी एक तदाकार स्थापना में सभी पूज्य परमात्माओं की तदाकार परिकल्पना करली जाती है। ठोना में पुष्पों का क्षेपण तो केवल पुष्पांजलिं अर्पण करना है।

पाँच अंगों का सामान्य अर्थ इसप्रकार है–

(१) **आह्वानन** : पूज्य को बुलाने की मनोभावना।

(२) **स्थापन** : बुलाये गये पूज्य को ससम्मान उच्चासन पर विराजमान करने की मनोभावना।

(३) **सन्निधिकरण** : भावना के स्तपर पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उच्चासन पर बिठाने पर भी तृप्ति न होने से अतिसन्निकट अर्थात् हृदय के सिंहासन पर बिठाने की तीव्र उत्कंठा या मनोभावना।

(४) **पूजन** : पूजन वह क्रिया है, जिसमें भक्त भगवान की प्रतिमा के समक्ष अष्ट द्रव्य आदि विविध आलम्बनों द्वारा कभी तो उन अष्ट द्रव्यों को परमात्मा के गुणों के प्रतीक रूप देखता हुआ क्रमशः एक-एक द्रव्य का आलम्बन लेकर भगवान का गुणानुवाद करता है। कभी उन अष्टद्रव्यों को विषयों को अटकाने में निमित्तभूत भोगों का प्रतीक मानकर उन्हें भगवान के समक्ष त्यागने की भावना भाता है। कभी अनर्घ्य (अमूल्य) पद की प्राप्ति हेतु अर्घ्य (बहुमूल्य) सामग्री के रूप में पुण्य से प्राप्त सम्पूर्ण वैभव का समर्पणता करने को उत्सुक दिखाई देता है। भक्त की इसी क्रिया/प्रक्रिया को पूजन कहते हैं।

(५) **विसर्जन** : पूजा की समाप्ति पर पूजा के समय हुई द्रव्य एवं भाव सम्बन्धी त्रुटियों के लिए अत्यन्त विनम्र भावों से क्षमा प्रार्थना के साथ भक्तिभाव प्रगट करते हुए पूज्य की चरण-शरण सदा प्राप्त रहे– ऐसी कामना करना विसर्जन है।

अभिषेक या प्रक्षाल

सर्वप्रथम यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त पाँचों अंगों में अभिषेक या प्रक्षाल सम्मिलित नहीं है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि अभिषेक या प्रक्षाल के बिना भी पूजन अपूर्ण नहीं है। प्रत्येक पूजक को अभिषेक करना अनिवार्य नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। बार-बार प्रक्षाल करने से प्रतिमा के अंगोपांग अल्पकाल में ही घिस जाते हैं, पाषाण भी खिरने लगता है; अत: प्रतिमा की सुरक्षा की दृष्टि से भी प्रतिदिन दिन में एक बार ही शुद्ध प्रासुक जल से प्रक्षाल होना चाहिये। मूर्तिमान तो त्रिकाल पवित्र ही है, केवल मूर्ति में लगे रजकणों की स्वच्छता हेतु प्रक्षाल किया जाता है, मूर्ति को स्वच्छ रखने में शिथिलता न आने पाये, एतदर्थ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का नियम है।

वर्तमान में अभिषेक के विषय में दो मत पाये जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने के बाद जिनप्रतिमा समोशरण के प्रतीक जिनमन्दिर में विराजमान अरहंत व सिद्ध परमात्मा की प्रतीक मानी जाती हें। इसलिए उस अरहंत की प्रतिमा का अभिषेक जन्म कल्याणक के अभिषेक का प्रतीक नहीं हो सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अरहंत परमात्मा की प्रतिमा के अभिषेक के विषय में लिखा है– "यद्यपि भगवान के अभिषेक का प्रयोजन नाहीं, तथापि पूजक के प्रक्षाल करते समय ऐसा भक्तिरूप उत्साह का भाव होता है– जो मैं अरहंत कूँ ही साक्षात् स्पर्श करूँ हूँ।"[१]

कविवर हरजसराय कृत अभिषेक पाठ में तो यह भाव और सशक्त ढंग से व्यक्त हुआ है। वे लिखते हैं–

"पापाचरण तजि नह्वन करता, चित्त में ऐसे धरूँ।
साक्षात् श्री अरहंत का, मानो नह्वन परसन करूँ॥
ऐसे विमल परिणाम होते, अशुभ नशि शुभबन्धते।
विधि[२] अशुभ नसि शुभ बन्धते, ह्वै शर्म[३] सब विधि[४] तासतैं।"

आगे अभिषेक करता हुआ पूजक अपनी पर्याय को पवित्र व धन्य अनुभव करता हुआ कहता है–

१. रत्नकरण्ड : पं. सदासुखदासजी की टीका पृष्ठ २०८ २. कर्म, ३. सुख, ४. सब प्रकार से

"पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैं। पावन पान[1] भये तुम चरनन परस तैं॥
पावन मन ह्वै गयो तिहारें ध्यान तैं। पावन रसना मानी तुम गुन-गान तैं॥
पावन भई पर्याय मेरी, भयो मैं पूरन धनी।
मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी, पूर्ण भक्ति नहीं बनी॥
धनि धन्य ते बड़भागि भवि तिन नीव शिवघर की धरी।
वर क्षीरसागर आदि जल मणिकुंभ भरि भक्ति करी॥"

इसके भी आगे पूजक प्रक्षाल का प्रयोजन प्रगट करता हुआ कहता है—

"तुम तो सहज पवित्र, यही निश्चय भयो। तुम पवित्रता हेत नहीं मज्जन[2] ठयो॥
मैं मलीन रागादिक मल करि ह्वै रह्यो। महामलिन तन में वसुविधि वश दुःख सह्यो॥"[3]

इसके साथ-साथ प्रतिदिन प्रक्षाल करने का दूसरा प्रयोजन परम-शान्त मुद्रा युक्त वीतरागी प्रतिमा की वीतरागता, मनोज्ञता व निर्मलता बनाये रखनेके लिए यत्नाचारपूर्वक केवल छने या लोंग आदि द्वारा प्रासुक पानी से प्रतिमा को परिमार्जित करके साफ-सुथरा रखना भी है।

दुग्धाभिषेक करने वालों को यदि यह भ्रम हो कि देवेन्द्र क्षीरसागर के दुग्ध से भगवान का अभिषेक करते हैं तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि क्षीरसागर में त्रस-स्थावर जन्तुओं से रहित शुद्ध निर्मल जल ही होता है, दूध नहीं। क्षीरसागर तो केवल नामनिक्षेप से उस समुद्र का नाम है।

द्वितीय मत के अनुसार अभिषेक जन्म कल्याणक का प्रतीक माना गया है। सोमदेवसूरि (जो मूलसंघ के आचार्य नहीं हैं) द्वितीय मत के अनुसर्ता जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अभिषेक विधि का विधान करते समय वे सब क्रियायें बतलाई हैं, जो जन्माभिषेक के समय होती हैं। यह जन्माभिषेक भी इन्द्र और देवगण द्वारा क्षीरसागर के जीव-जन्तु रहित निर्मल जल से ही किया जाता है, दूध-दही आदि से नहीं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि दोनों ही मान्यताओं के अनुसार जिनप्रतिमा का अभिषेक या प्रक्षाल केवल शुद्ध प्रासुक निर्मल जल से ही किया जाना चाहिये।

१. हाथ २. परिमार्जन करना, अंगोछे से पोंछना। ३. बृहज्जिनवाणी संग्रह: टोडरमल स्मारक जयपुर, पृष्ठ ६२

पूजन के लिए प्रासुक अष्ट द्रव्य

पूजन के विविध आलम्बनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन अष्ट द्रव्य माने जाते हैं। अष्ट द्रव्य चढ़ाने के सम्बन्ध में वर्तमान में स्पष्ट दो मत हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार तो अचित्त प्रासुक द्रव्य ही पूजन के योग्य हैं। यह पक्ष सचित्त द्रव्य को हिंसामूलक होने से स्वीकार नहीं करता तथा दूसरा पक्ष पूजन सामग्री में सचित्त अर्थात् हरितकाय फल-फूल एवं पकवान व मिष्ठान्न को भी पूजन के अष्ट द्रव्य में सम्मिलित करता है।

इस सम्बन्ध में यदि हम अपना पक्षव्यामोह छोड़कर साम्यभाव से आगम का अध्ययन करें और उनकी नय विवक्षा को समझने का प्रयत्न करें तो हमें बहुत कुछ समाधान मिल सकता है।

पूजन के छन्दों के आधार पर जिन लोगों का यह आग्रह रहता है कि— जब हम विविध फलों और पकवानों के नाम बोलते हैं तो फिर उन्हें ही क्यों न चढ़ायें ? भले ही वे सचित्त हों, अशुद्ध हों।

उनसे हमारा अनुरोध है कि हमारी पूजा में आद्योपान्त एक वस्तु भी तो वास्तविक नहीं है। स्वयं हमारे पूज्य परमात्मा की स्थापना एक पाषाण की प्रतिमा में की गई है। देवकृत दिव्य समवशरण की स्थापना सीमेंट, ईंट-पत्थर के बने मन्दिर में की गई है। स्वयं पूजक भी असली इन्द्र कहाँ है ? जब आद्योपान्त सभी में स्थापना निक्षेप से काम चलाया गया है, तो अकेले अष्ट द्रव्य के सम्बन्ध में ही हिंसामूलक सचित्त मौलिक वस्तु काम में लेने का हठाग्रह क्यों ?

सचित्त पूजा करने वाले क्या कभी पूजा में उल्लिखित सामग्री के अनुसार पूरा निर्वाह कर पाते हैं ? जरा विचार करें—पूजाओं के पदों में तो कंचनझारी में क्षीरसागर का जल एवं रत्नदीप समर्पित करने की तथा नाना प्रकार के सरस व्यंजनों से पूजा करने की बात आती है। पर आज क्षीरसागर का जल तो क्या कुएं का पानी कठिन हो रहा है और रत्नदीप तो हमने केवल

पुस्तकों में ही देखे हैं।[१] आखिर में जब सभी जगह कल्पना से ही काम चलाना पड़ता है, तब क्यों नहीं अहिंसामूलक शुद्ध वस्तु से ही काम चलायें ? आगमानुसार भी पूजा में तो भावों की ही मुख्यता होती है, द्रव्य की नहीं। द्रव्य तो आलम्बन मात्र है, जैसे विशुद्ध परिणाम होंगे, फल तो वैसा ही मिलेगा।

कहा भी है— **"जीवन के परिणामन की अति विचित्रता देखहु प्राणी**
बन्ध-मोक्ष परिणामन ही तैं कहत सदा है जिनवाणी।"

यद्यपि यह बात सच है कि पद्मपुराण, महापुराण, वसुनन्दि श्रावकाचार, सागर धर्मामृत, तिलोयपण्णति और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पाठों में सचित्त द्रव्यों द्वारा की गई पूजा की खूब खुलकर चर्चा है। परन्तु क्या कभी आपने यह देखने व समझने का भी प्रयास किया है कि ये पूजायें किसने, कब, कहाँ कीं और किन-किन द्रव्यों से कीं ?

लगभग सभी चर्चायें इन्द्रध्वज, आष्टाह्निक, कल्पद्रुम, सदार्चन एवं चतुर्मुख पूजाओं से सम्बन्धित हैं, जो सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्रगण, देवगण, पुराणपुरुष, चक्रवर्ती एवं मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा दिव्य निर्जन्तुक सामग्री से कीं जाती हैं। हम सब स्वयं अकृत्रिम चैत्यालयों के अंत में अंचलिका रूप में पढ़ते हैं— **"चहुविहा देवा सपरिवारा दिव्वेणगंधेण, दिव्वेणपुप्फेण दिव्वेणचुण्णेण, दिव्वेणधूवेण, दिव्वेणवासेण, दिव्वेणण्हाणेण णिच्चकालं अच्चन्ति पूजन्ति वन्दन्ति णमस्संति। अहमवि इह सन्तोतत्थ संताई णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वन्दामि णमस्सामि"** अर्थात् सभी सामग्री देवोपनीत कल्पवृक्षों से प्राप्त दिव्य प्रासुक निर्जन्तुक होती है।[२]

इस सम्बन्ध में पं. सदासुखदासजी के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य हैं—

"इस कलिकाल में भगवान प्ररूप्या नयविभाग तो समझे नाहीं, अर शास्त्रनि में प्ररूपण किया तिस कथनी कूं नयविभाग तैं जाने नाहीं, अर अपनी कल्पना तैं ही पक्षग्रहण करि यथेच्छ प्रवर्ते हैं।"[३]

---

१. "वर नीर क्षीर समुद्र घट भरि अग्र तसु वहु विधि नचूं" – देव-शास्त्र-गुरु पूजा : कविवर द्यानतराय

२. तिलोयपण्णत्ति ३/२२३-२२६ में भी इसी तरह का उल्लेख है।

३. र. क. श्रा. टीका पण्डित सदासुखदास श्लोक ११९, पृष्ठ २११

सचित्त द्रव्यों से पूजन का निषेध करते हुए वे आगे लिखते हैं—

"जो इस दुषमकाल में विकलत्रय जीवनि की उत्पत्ति बहुत है, अर पुष्पनि में बेंद्री, तेन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री त्रस जीव प्रगट नेत्रनि के गोचर दौड़ते देखिये हैं..... । अर पुष्पादि में त्रस जीव तो बहुत ही हैं । अर बादर निगोद जीव अनंत हैं..... । तातैं ज्ञानी धर्म बुद्धि हैं ते तो समस्त कार्य यत्नाचार तैं करो..... ।"[१]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आगम में सचित्त व अचित्त द्रव्य से पूजन का विधान है, वह कहाँ किस अपेक्षा है— यह समझकर हमें अचित्त द्रव्य से ही पूजा करना चाहिये ।

पं. सदासुखदासजी के ही शब्दों में—

"जे सचित्त के दोष तैं भयभीत हैं, यत्नाचारी हैं, ते तो प्रासुक जल, गन्ध, अक्षत कूं चन्दन कुमकुमादि तैं लिप्त करि, सुगन्ध रंगीन चावलों में पुष्पनि का संकल्प कर पुष्पनि तैं पूजैं हैं तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प व रूपा के पुष्प तथा रत्नजटित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादि अनेक मनोहर पुष्पनि करि पूजन करें हैं, बहुरि रत्ननि के दीपक व सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करें हैं.....तथा बादाम, जायफल, पूंगीफलादि विशुद्ध प्रासुक फलनि तैं पूजन करै हैं ।"[२]

यद्यपि पूजन में सर्वत्र भावों की ही प्रधानता है, तथापि अष्टद्रव्य भी हमारे उपयोग की विशेष स्थिरता के लिये अवलम्बन के रूप में पूजन के आवश्यक अंग माने गये हैं । आगम में भी पूजन के अष्टद्रव्यों का विधान है, किन्तु पूजन सामग्री में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि ऐसी कोई वस्तु पूजन के अष्टद्रव्य में सम्मिलित न हो, जो हिंसामूलक हो और जिसके कारण लोक की—जगत की संचालन व्यवस्था में कोई बाधा या अवरोध उत्पन्न होता हो ।

---

१. र. क. श्रा. टीका पण्डित सदासुखदास श्लोक ११९, पृष्ठ २११

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका पं. सदासुखदास श्लोक ११९, पृष्ठ २०६

यही कारण है कि गेहूँ, चना, जौ आदि अनाजों को पूजन सामग्री में सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि वे बीज हैं, बोने पर उगते हैं। देश की आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ समृद्धि के भी साधन हैं। इसी हेतु से दूध-दही-घी आदि का भी अभिषेक-पूजन एवं हवन आदि में उपयोग नहीं होना चाहिए। तथा इसीकारण निस्तुष-निर्मल-शुभ तण्डुल और चल-चन्दन-नैवेद्य-दीप-धूप-फल आदि प्राकृतिक व सूखे-पुराने प्रासुक पदार्थ ही पूजन के योग्य कहे गये हैं।

भले ही जल-चन्दन-दीप-धूप और फल लौकिक दृष्टि से सोना-चाँदी एवं जवाहरात की भाँति बहुमूल्य नहीं हों, किन्तु जीवनोपयोगी होने से ये पदार्थ बहुमूल्य ही नहीं, बल्कि अमूल्य भी हैं। जल भले ही बिना मूल्य के मिल जाता हो, परन्तु जल के बिना जीवन संभव नहीं है, इसीकारण उसे जीवन भी कहा है। तथा चन्दन, अक्षत, दीप, धूप, पुष्प, फलादि सामग्री भले ही जल की भाँति जीवनोपयोगी न हो, तथापि "कर्पूरं घनसारं च हिमं सेवते पुण्यवान" की उक्त्यनुसार इसका सेवन (उपभोग) पुण्यवानों को ही प्राप्त होता है। इसतरह यद्यपि ये पदार्थ भी सम्मानसूचक होने से पूजन के योग्य माने गये हैं, किन्तु अहिंसा की दृष्टि से इन सब का प्रासुक व निर्जन्तुक होना आवश्यक है।

जब हमारे यहाँ कोई विशिष्ट अतिथि (मेहमान) आते हैं तो हम उनके स्वागत में अपने घर में उपलब्ध उत्कृष्टतम पदार्थ उनकी सेवा में समर्पित करते हैं। स्वयं तो स्टील की थाली में भोजन करते हैं और उन्हें चाँदी की थाली में कराते हैं। स्वयं पुराने कम्बल-चादर ओढ़ते-बिछाते हैं और मेहमान के लिए नये-नये वस्त्र- बर्तन आदि काम में लेतें हैं। उसीतरह भगवान जिनेन्द्र की पूजन के लिये आचार्यों ने उत्तमोत्तम बहुमूल्य जीवनोपयोगी और सम्मानसूचक पदार्थों को समर्पण करने की भावना प्रगट की है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जो-जो पदार्थ पूजनों में लिखे हैं, वे सभी पदार्थ उसी रूप में पूजन में अनिवार्य रूप से होने ही चाहिए।

जिसके पास जो संभव हो, अपनी शक्ति और साधनों के अनुसार प्राप्त पूजन सामग्री द्वारा पूजन की जा सकती है । इतना अवश्य है कि वह पूजन सामग्री अचित्त, निर्जन्तुक-प्रासुक व पवित्र हो ।

मोक्षमार्गप्रकाशक में श्री टोडरमलजी ने भी यह लिखा है–

"केवली के व प्रतिमा के आगे अनुराग से उत्तम वस्तु रखने का दोष नहीं है । धर्मानुराग से जीव का भला होता है ।"[१]

इसी अभिप्राय से आचार्यों ने अष्टद्रव्यों में उत्तमोत्तम कल्पनायें की हैं– मणिजड़ित सोने की झारी और उसमें क्षीरसागर या गंगा का निर्मल जल, रत्नजड़ित मणिदीप, उत्तमोत्तम पकवान एवं सुस्वादु सरस फल आदि ।

यही कारण है कि अब तक उपलब्ध प्राचीन पूजन साहित्य में अधिकांशत: यही धारा प्राप्त होती है । सब कुछ बढ़िया होने पर भी इसमें कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि हम जिनेन्द्र देव के नहीं, उन्हें चढ़ाई जाने वाली सामग्री के गीत गा रहे हैं । कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि हम जल-फल आदि की प्रशंसा में इतने मग्न हो जाते हैं कि भगवान को भी भूल जाते हैं ।

शायद हमारी इसी कमजोरी को ध्यान में रखकर आज जो नई आध्यात्मिक धारायें विकसित हो रहीं हैं, उनमे जल-फलादि सामग्री के गुणगान की अपेक्षा उनको प्रतीक बनाकर जिनेन्द्र भगवान के अधिक गुण गाये गये हैं तथा जीवनोपयोगी बहुमूल्य सुन्दरतम जलादि सामग्री की अनुशंसा की अपेक्षा सुख और शान्ति की प्राप्ति में उनकी निरर्थकता अधिक बताई गई है; इसी कारण उसके त्याग की भावना भी भाई गई है ।

यह बात भी नहीं है कि यह धारा आधुनिक युग की ही देन हो । क्षीण रूप में ही सही, पर यह प्राचीन काल में भी प्रवाहित थी । इस युग में यह मूलधारा के रूप में चल रही है ।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पाँचवां अधिकार, पृष्ठ १६४, पंक्ति ९

इसप्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान में हिन्दी पूजन साहित्य में मुख्यरूप से तीन धारायें प्रवाहित हो रही हैं :—

१. पहली तो चढ़ाये जाने वाले द्रव्य की विशेषताओं की निरूपक ।

२. दूसरी द्रव्यों के माध्यम से पूज्य परमात्मा के गुणानुवाद करने वाली ।

३. तीसरी लौकिक जीवनोपयोगी एवं सम्मानसूचक बहुमूल्य पदार्थों की आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि में निरर्थकता बताकर उन्हें त्यागने की भावना व्यक्त करने वाली ।

प्रथम धारा की बात तो स्पष्ट हो ही चुकी । दूसरी धारा में कविवर द्यानतराय का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है :—

"उत्तम अक्षत जिनराज पुंज धरें सोहें ।
सब जीते अक्ष समाज तुम सम अरु को है ॥"[१]

उक्त छन्द में अक्षतों (सफेद चावलों) के अवलम्बन से जिनराज को ही उत्तम अक्षत कहा गया है ।

यहाँ कवि का कहना यह है कि— हे जिनराज ! अनन्तगुणों के समूह (पुंज) से शोभायमान, कभी भी नाश को प्राप्त न होने वाले अक्षय स्वरूप होने से आप ही वस्तुत: उत्तम अक्षत हो । आपने समस्त अक्षसमाज (इन्द्रिय समूह) को जीत लिया है अत: हे जितेन्द्रियजिन ! आपके समान इस जगत में और कौन हो सकता है ? सचमुच देखा जावे तो आप ही सच्चे अक्षत हो, अखण्ड व अविनाशी हो ।

उक्त सन्दर्भ में निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :—

सचमुच तुम अक्षत हो प्रभुवर तुम ही अखण्ड अविनाशी हो ।[२]

× × ×

प्रभुवर तुम जल से शीतल हो, जल से निर्मल अविकारी हो ।
मिथ्यामल धोने को प्रभुवर, तुम ही तो मल परिहारी हो ॥[३]

---

१. कविवर द्यानतराय : नन्दीश्वर पूजन । २. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : सिद्ध पूजन । ३. वही : सीमन्धर पूजन ।

तीसरी धारा में आने वाली सर्वस्व समर्पण की भावना से ओत-प्रोत निम्नांकित प्राचीन पूजन की पंक्तियाँ भी अपने आप में अद्‌भुत हैं :—

यह अर्घ्य कियो निज हेत, तुम को अर्पत हों।
द्यानत कीनो शिवखेत, भूमि समरपत हों॥[१]

इस सन्दर्भ में आधुनिक पूजन की निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं —

बहुमूल्य जगत का वैभव यह, क्या हमको सुखी बना सकता।
अरे ! पूर्णता पाने में, क्या इसकी है आवश्यकता॥
मैं स्वयं पूर्ण हूँ अपने में, प्रभु है अनर्घ्य मेरी माया।
बहुमूल्य द्रव्यमय अर्घ लिए, अर्पण के हेतु चला आया॥

श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन में यह भावना और भी सशक्त रूप में व्यक्त हुई है :—

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु भूख न मेरी शांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
युग-युग से इच्छा सागर में, प्रभु गोते खाते आया हूँ।
पंचेन्द्रिय मन के षट् रस तज, अनुपम रस पीने आया हूँ॥

× × ×

जग के जड़ दीपक को अब तक, समझा था मैंने उजियारा।
झंझा के एक झकोरे में, जो बनता घोर तिमिर कारा॥
अतएव प्रभो ! यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूँ।
तेरी अन्तर लौ से निज अन्तर, दीप जलाने आया हूँ॥[३]

डॉ. भारिल्ल की पूजनों में यह ध्वनि लगभग सर्वत्र ही सुनाई देती है। सिद्ध पूजन के अर्घ्य के छन्द में यह बात सटीक रूप में व्यक्त हुई है :—

---

१. कविवर द्यानतराय : नन्दीश्वर पूजन।
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु पूजन।
३. युगलजी कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन : नैवेद्य एवं दीप के पद।

जल पिया और चन्दन चरचा, मालायें सुरभित सुमनों की।
पहनी तन्दुल सेये व्यंजन, दीपावलियाँ की रत्नों की॥
सुरभी धूपायन की फैली, शुभ कर्मों का सब फल पाया।
आकुलता फिर भी बनी रही, क्या कारण जान नहीं पाया॥
जब दृष्टि पड़ी प्रभुजी तुम पर, मुझको स्वभाव का भान हुआ।
सुख नहीं विषय भोगों में है, तुमको लख यह सद्ज्ञान हुआ॥
जल से फल तक का वैभव यह, मैं आज त्यागने हूँ आया।
होकर निराश सब जग भर से, अब सिद्ध शरण में मैं आया॥

पूजन पढ़ते समय जब तक उसका भाव पूरी तरह ध्यान में न आवे, तब तक उसमें जैसा मन लगना चाहिए, वैसा लगता नहीं है। इसके लिए आवश्यक यह है कि पूजन साहित्य सरल और सुबोध भाषा में लिखा जाय। यद्यपि प्राचीन पूजनें अपने युग की अत्यन्त सरल एवं सुबोध ही हैं, तथापि काल परिवर्तन के प्रवाह से उनकी भाषा वर्तमान युग के पाठकों को सहज ग्राह्य नहीं रही है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि अधिक से अधिक पूजनें आज की सरल-सुबोध भाषा में भी लिखी जावें और उनका भी प्रचार-प्रसार हो; साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि नये और सरल-सुबोध के व्यामोह में हम अपनी पुरातन निधि को भी न विसर जावें। आवश्यकता समुचित सन्तुलन की है, न तो हम प्राचीनता के व्यामोह में विकास को अवरुद्ध करें और न ही सरलता के व्यामोह में पुरातन को विस्मृति के गर्त में डाल दें। नई पूजने बनाने के व्यामोह में आगम-विरुद्ध रचना न हो जावे, इसका भी ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

प्राचीन इतिहास सुरक्षित रखने के साथ-साथ हर युग में नया इतिहास भी बनना चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि भविष्य के लोग कहें कि इस युग में ऐसे भक्त ही नहीं थे, जो पूजनें लिखते। निवनिर्माण की दृष्टि से भी युग को समृद्ध होना चाहिए और प्राचीनता को सँजोने में भी पीछे नहीं रहना चाहिए।

प्राचीन भक्ति साहित्य में समागत कुछ कथनों पर आज बहुत नाक-भों सिकोड़ी जाती है। कहा जाता है कि उस पर कर्तावाद का असर है, क्योंकि उसमें भगवान को दीन-दयाल, अधम-उधारक, पतित-पावन आदि कहा गया है, भगवान से पार लगाने की प्रार्थनायें भी कम नहीं की गई हैं; पर ये सब व्यवहार के कथन हैं। व्यवहार से इसप्रकार के कथन जिनागम में भी पाये जाते हैं; पर उन्हें औपचारिक कथन ही समझना चाहिए।

मूलाचार के पाँचवें अधिकार की १३७वें गाथा में ऐसे कथनों को असत्यमृषा भाषा के प्रभेदों में याचनी भाषा बतलाया है। जिस भाषा के द्वारा किसी से याचना-प्रार्थना की जाती है। जो न सत्य हो और न झूठ हो।[१] पाँचवें अधिकार की १२९वीं गाथा के अर्थ में भाषा समिति के रूप में भी यही बताया है।[२] इससे ये कथन निर्दोष ही सिद्ध होते हैं।

उक्त सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है—

"तथा उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम उधारक, पतितपावन मानता है; उसीप्रकार यह भी कर्तृत्व बुद्धि से ईश्वर को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो उनको निमित्तमात्र है, इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं।

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं। तथा अरहन्तादिक के नामादिक से श्वानादिक ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिक का ही अतिशय मानते हैं; परन्तु बिना परिणाम के नाम लेने वाले को भी स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती, तब सुनने वाले को कैसे होगी ? श्वानादिक को नाम सुनने के निमित्त से कोई मन्दकषाय रूप भाव हुए हैं, उनका फल स्वर्ग हुआ; उपचार से नाम ही की मुख्यता की है।

---

१. मूलाचार पृष्ठ १८९ (शास्त्राकार प्रति शोलापुर)

२. वही, पृष्ठ १८६

तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादि से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्व कर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता है नहीं। अरहन्तादिक की भक्ति रूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्व पाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती है, परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजन सहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ, कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए – उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे ? इसलिए उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

तथा कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ; परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करें तो पापानुराग हो, इसलिए अशुभ राग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं, और मोक्षमार्ग का बाह्य निमित्त मात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर संतुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।"[१]

पुजारी को पूज्य के स्वरूप का भी सच्चा परिज्ञान होना चाहिए। जिसकी पूजा की जा रही है, उसके स्वरूप की सच्ची जानकारी हुए बिना भी पूजा और पुजारियों की भावना में अनेक विकृतियाँ पनपने लगतीं हैं।

प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक युग में लिखी जाने वाली पूजनों में इस बात का भी ध्यान रखा जा रहा है। पूज्यों में मुख्यत: देव-शास्त्र-गुरु ही आते हैं। आधुनिक युग में लिखी गई देव-शास्त्र-गुरु पूजनों की जयमालाओं में उनकी भक्ति करते हुए उनके स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२२

गुरु के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हे गुरुवर ! शाश्वत सुख-दर्शक, यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा दिग्दर्श कराने वाला है॥
जब जग विषयों में रच-पच कर, गाफिल निद्रा में सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथ में विषकंटक बोता हो॥
हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।
तब शान्त निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिन्तन करते हो॥
करते तप शैल नदी तट पर, तरु तल वर्षा की झड़ियों में।
समता रस पान किया करते, सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में॥[१]

× × ×

दिन-रात आत्मा का चिन्तन, मृदु सम्भाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन॥
निर्ग्रन्थ दिगम्बर सद्ज्ञानी, स्वागत में सदा विचरते जो।
ज्ञानी ध्यानी समरस सानी, द्वादश विधि तप नित करते जो॥[२]

सच्चे देव के स्वरूप को समझने में हमसे क्या भूल हो जाती है और उसका क्या परिणाम निकलता है ? यह बात निम्नांकित पंक्तियों में कितनी सहजता से व्यक्त हो गई है—

करुणानिधि तुम को समझ नाथ, भगवान भरोसे पड़ा रहा।
भरपूर सुखी कर दोगे तुम, यह सोचे सन्मुख खड़ा रहा॥
तुम वीतराग हो लीन स्वयं में, कभी न मैंने यह जाना।
तुम हो निरीह जग से कृत-कृत, इतना नहीं मैंने पहचाना॥[३]

इसीप्रकार शास्त्र के यथार्थ स्वरूप को दर्शानेवाली निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

---

१. श्री जुगलकिशोर 'युगल' : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।
३. वही

महिमा है आगम जिनागम की, महिमा है..... ॥ टेक ॥
जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी, हम चिन्मूरति आतम की।
रागादिक दुःख कारन जानैं, त्याग दीनि बुद्धि भ्रम की।
ज्ञान ज्योति जागी उर अन्तर, रुचिवाढ़ी पुनि शम-दम की।[१]

× × ×

वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर जो हमको दिखलाती है॥[२]

× × ×

सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूंथे बारह सुअंग।
रवि-शशि न हरै सो तम हराय, सो शास्त्र नमों बहु प्रीति लाय॥[३]

देखो, शास्त्र का स्वरूप लिखते हुए सभी कवियों ने इसी बात पर ही जोर दिया है कि जिनवाणी रूपी गंगा वह है जो– अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को दर्शानेवाली हो, भेदविज्ञान प्रगट करनेवाली हो, मिथ्यात्वरूप महातम का विनाश करनेवाली हो, विविध नयों की कल्लोलों से विमल हो, स्याद्वादनय व सप्तभंग से सहित हो और वीतरागता की पोषक हो। जो राग-द्वेष को बढ़ाने में निमित्त बने, वह वीतराग वाणी नहीं हो सकती।

जिनवाणी की परीक्षा उपरोक्त लक्षणों से ही होनी चाहिए। किसी स्थान विशेष से प्रकाशित होने से उसमें भक्ति या अभक्ति प्रकट करना या सच्चे-झूठे का निर्णय करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। ●

---

१. कविवर भागचन्दजी : जिनवाणी स्तुति।
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।
३. कविवर द्यानतराय : देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला।

सिद्धचक्र-मण्डल विधान : अनुशीलन

हिन्दी पूजन-भक्ति साहित्य में एक विधा मंडल पूजन-विधान की भी है। ये मंडल पूजन-विधान विशेष अवसरों पर विशेष आयोजनों के साथ किये जाते हैं। इस विधा के कवि संतलाल, टेकचन्द, स्वरूपचन्द, वृन्दावन आदि हैं।

पूजा विधानों में सिद्धचक्रविधान का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि सिद्धचक्रविधान का प्रयोजन सिद्धों के गुणों का स्मरण करते हुये अपनी आत्मा को सिद्धदशा तक पहुँचाना होता है और आत्मा के लिये इससे उत्कृष्ट अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

हिन्दी विधानों में सिद्धचक्रमंडल विधान के रचयिता कविवर संतलाल का नाम सर्वोपरि है, क्योंकि उनकी यह रचना साहित्यिक दृष्टि से तो उत्तम है ही, साथ ही भक्ति काव्य होते हुये भी आध्यात्मिक एवं तात्त्विक भावों से भरपूर है। एक-एक अर्घ के पद का अर्थगांभीर्य एवं विषयवस्तु विचारणीय है।

तत्त्वज्ञानपरक, जाग्रतविवेक, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि एवं निष्काम भक्ति की त्रिवेणी जैसी इसमें प्रवाहित हुई है, अन्यत्र दिखाई नहीं देती। निश्चय ही हिन्दी विधान पूजा साहित्य में कविवर संतलाल का उल्लेखनीय योगदान है।

इस विधान की आठों जयमालायें एक से एक बढ़कर हैं। सभी में सिद्धों का विविध आयामों से तत्त्वज्ञानपरक गुणगान किया गया है। इनमें न तो कहीं लौकिक कामनाओं की पूर्ति विषयक चाह ही प्रगट की गई है और न प्रलोभन ही दिया गया है।

पहली जयमाला में ही सिद्धभक्ति के माध्यम से गुणस्थान क्रम में संसारी से सिद्ध बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया अति संक्षेप में जिस खूबी से दर्शाई गई है, वह द्रष्टव्य है :—

जय करण कृपाण सु प्रथमवार, मिथ्यात्व-सुभट कीनो प्रहार।
दृढ़ कोट विपर्ययमति उलंघि, पायो समकित थल थिर अभंग॥ १॥
निजपर विवेक अन्तर पुनीत, आतमरुचि वरती राजनीत।
जगविभव विभाव असार एह, स्वातम सुखरस विपरीत देह॥ २॥
तिन नाशन लीनो दृढ़ संभार, शुद्धोपयोग चित चरण सार।
निर्ग्रन्थ कठिन मारग अनूप, हिंसादिक टारन सुलभ रूप॥ ३॥
लखि मोह शत्रु परचण्ड जोर, तिस हनन शुकल दल ध्यान जोर।
आनन्द वीररस हिये छाय, क्षायिक श्रेणी आरम्भ थाय॥ ६॥

सांगरूपक के रूप में इस में जीवराजा और मोहराजा के मध्य हुये घमासान युद्ध का चित्रण किया गया है। सर्वप्रथम जीवरूप राजा अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण गुणस्थान रूप कृपाण से मिथ्यात्व रूप सुभट पर प्रहार करता है तथा विपरीत बुद्धिरूप ऊँचे कोट को लांघकर सम्यग्दर्शन रूप सुखद समतल स्थित भूमि पर अधिकार कर लेता है और आत्मरुचि एवं स्वपर-भेदविज्ञान की सात्विक राजनीति आरम्भ हो जाती है तथा आत्मस्वभाव के विपरीत जगत के वैभव और विभावभावों के अभाव के लिए शुद्धोपयोग को दृढ़ता से धारण करता है।

अन्त में आनन्दरूप वीर रस से उत्साहित होकर जीवराजा ने मोहरूप राजा को सदा के लिए मृत्यु की गोद में सुला दिया और तेरहवें गुणस्थान की पावन भूमि में प्रवेश कर अनंत आनंद का अनुभव करते हुये अपनी सनातन रीति के अनुसार मोह राजा के उपकरणरूप शेष अघातिया कर्मों का भी अभाव करके अनंतकाल के लिए सिद्धपुर का अखण्ड साम्राज्य प्राप्त कर लिया।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस पूजन में तत्त्वज्ञान तो पद-पद में दर्शनीय है ही, भक्ति भावना की भी कहीं कोई कमी नहीं है। तत्त्वज्ञान या अध्यात्म के कारण भक्ति रस के प्रवाह में कहीं कोई अवरोध या व्यवधान नहीं आने पाया है। इसप्रकार संत कवि कृत सिद्धचक्रविधान मण्डलपूजन-विधान

साहित्य में अभूतपूर्व अद्वितीय उपलब्धि है । इसको जितने अधिक ध्यान से सुना व पढ़ा जा सके, उतना ही अधिक लाभ होगा ।

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है । इसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से स्वयं भगवान है और यदि जिनागम में बताये मार्ग पर चले, स्वयं को जाने, पहचाने और स्वयं में ही समा जावे तो प्रगट रूप से पर्याय में भी परमात्मा बन जाता है ।

जैनदर्शन के अनुसार परमात्मा बनने की प्रक्रिया पूर्णत: स्वावलम्बन पर आधारित है । किसी की कृपा से दु:खों से मुक्ति संभव नहीं है; अत: जैनदर्शन का भक्ति साहित्य अन्य दर्शनों के समान कर्त्तावाद का पोषक नहीं हो सकता ।

प्राय: देखा जाता है कि इस विधान को करने वाले अधिकांश व्यक्ति अपने मन में व्यक्त या अव्यक्त रूप में कोई न कोई मनौती या लौकिक प्रयोजन की पूर्ति की भावना संजोये रहते हैं, जो कभी-कभी उनकी वाणी में भी व्यक्त हो जाती है—

वे कहते हैं— "जब हमारा पप्पू बीमार पड़ा था, बचने की आशा नहीं रही, डॉक्टरों ने जवाब दे दिया तो हमने भगवान से मन ही मन यह प्रार्थना की— हे प्रभु ! यदि बच्चा अच्छा हो गया तो सिद्धचक्र मण्डल विधान रचायेंगें ।"

"जब हमारे यहाँ आयकर वालों की रेड़ पड़ी (छापा पड़ा) और हमारा सारा सोना-चाँदी एवं जवाहरात जब्त हो गया था, तब हमने यह संकल्प किया था कि— यदि माल वापिस मिल गया तो..... ।"

"जब गुस्से में आकर हमारे बच्चे से गोली चल जाने से उसकी मौत हो गई और उस फौजदारी का केस दायर हो गया तब हमने यह भावना भाई कि हे भगवान ! यदि बेटा बरी हो गया, हम केस जीत गये तो हम..... ।"

फिर उनमें से कोई कहेगा — "अरे भाई ! सिद्धचक्र विधान में बड़ी सिद्धि है, हमारा पप्पू तो एकदम ठीक हो गया । ऑपरेशन में एक लाख रुपया लग गया तो क्या हुआ पर भगवान की कृपा से वह बिल्कुल ठीक है, अत: हमें

विधान तो कराना ही है।"

दूसरा कहेगा– "हमने तो विधान में पैसा पानी की तरह बहाया, परन्तु क्या बतायें जब्त हुए माल का एक फुल्टा भी तो वापिस नहीं मिला, उल्टा जुर्माना और भरना पड़ा। इसकारण अपनी तो भाई ! अब पूजा-पाठ में कुछ श्रद्धा नहीं रही।"

तीसरा कहेगा– "भाई ! विधान में पैसा तो हमने भी कम खर्च नहीं किया था, परन्तु अपन तो यह समझते हैं कि जब अपना भाग्य खोटा हो तो बिचारे भगवान भी क्या कर सकते हैं? – जैसी करनी वैसी भरनी। फिर भी भाई ! हमारा तो भगवान की दया से जो भी हुआ अच्छा ही हुआ, विधान न करते तो केस तो फांसी का ही था, फांसी से बच भी आते तो जन्मभर की जेल तो होती ही, परन्तु विधान का ही प्रताप है कि तीन साल की सजा से पल्ला छूट गया। धन्य है भाई ! भगवान की महिमा....।"

इसप्रकार जो सिद्धचक्र विधान हमें सिद्धचक्र में सम्मिलित करा सकता है, आत्मा के अनादि कालीन मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषायभावों के कोढ़ को कम कर सकता है, मिटा सकता है; हमने अपनी मान्यता में उसकी महिमा को मात्र शारीरिक रोग मिटाने या अपनी अत्यन्त तुच्छ-लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति करने तक ही सीमित कर दिया है तथा वीतराग भगवान को पर के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता मानकर अपने अज्ञान व मिथ्यात्व का ही पोषण किया है।

और मजे की बात तो यह है कि– अपने इस अज्ञान के पोषण में प्रथमानुयोग की शैली में लिखी गई श्रीपाल-मैनासुन्दरी की पौराणिक कथा को निमित्त बनाया है। परमपवित्र उद्देश्य से लिखी गई उस धर्मकथा का प्रयोजन तो केवल अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि अव्युत्पन्न जीवों की पाप प्रवृत्ति को छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का था, जिसे हमने मिथ्यात्व की पोषक बना दिया है। इससे ज्ञात होता है कि अज्ञानी शास्त्र को शस्त्र कैसे बना लेते हैं ?

क्या उपरोक्त विचार मिथ्यात्व व अज्ञान के पोषक नहीं हैं और क्या

सिद्धचक्र विधान की महिमा को कम नहीं करते ? अरे ! सिद्धों की आराधना का सच्चा फल तो वीतरागता की वृद्धि होना है, क्योंकि वे स्वयं वीतराग हैं। सिद्धों का सच्चा भक्त उनकी पूजा-भक्ति के माध्यम से किसी भी लौकिक लाभ की चाह नहीं रखता, क्यों कि लौकिक लाभ की चाह तीव्रकषाय के बिना सम्भव नहीं है और ज्ञानी भक्त को तीव्रकषाय रूप पाप भाव नहीं होता।

मैना सुन्दरी ने सिद्धचक्र विधान किया था, किन्तु पति का कोड़ मिटाने के लिए नहीं किया था, बल्कि पति का दुःख देखकर उसे जो आकुलता होती थी, उससे बचने के लिए एवं पति का उपयोग जो बारम्बार पीड़ा चिन्तन रूप आर्तध्यानमय होता है, उससे बचाने के लिए सिद्धचक्र का पाठ किया था, क्योंकि मैना सुन्दरी तत्त्व ज्ञानी तो थी ही और अगले भव में मोक्षगामी भी थी। कोटिभट राजा श्रीपाल भी तत्त्वज्ञानी व तद्भव मोक्षगामी महापुरुष थे। क्या वे यह नहीं जानते थे कि वीतरागी सिद्ध भगवान किसी का कुछ भला-बुरा नहीं करते ? फिर भी अपनी आकुलता रूप पाप भाव से बचने के लिए एवं समता भाव बनाये रखने के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, अतः ज्ञानीजन भी यही सब करते हैं, पर कोई लौकिक सुख की कामना नहीं करते।

आगम में भी यही कहा है कि लौकिक अनुकूलताओं के लक्ष्य से वीतराग देव-गुरु-धर्म की आराधना से भी पापबन्ध ही होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं—

"पुनश्च, इस (इन्द्रिय जनित सुख की प्राप्ति एवं शारीरिक दुःख के विनाश रूप) प्रयोजन के हेतु अरहन्तादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है।"[१]

अतः हमें वीतराग देव-गुरु-धर्म (शास्त्र) का सही स्वरूप समझकर एवं उनकी भले प्रकार से पहचान व प्रतीति करके सभी पूजन-विधान के माध्यम से एक वीतराग भावों का ही पोषण करना चाहिए।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक : प्रथम अध्याय, पृष्ठ ७

नवग्रह विधान : एक संभावना यह भी

जैनधर्म में एक वीतराग देव के सिवाय और कोई भी देव-देवी अष्टद्रव्य द्वारा पूज्य नहीं हैं। नवदेव और कोई नहीं है, प्रकारान्तर से वीतराग देव के ही विविध रूप हैं। अरहंत व सिद्ध तो साक्षात् वीतराग हैं ही, आचार्य, उपाध्याय व साधु भी वीतरागता के ही उपासक हैं तथा स्वयं भी एकदेश वीतरागी हैं। तथा जिनधर्म, जिनबचन, जिनप्रतिमा व जिनालय भी वीतराग के ही प्रतीक हैं। उक्तं च—

"अरहंत सिद्ध साहू तिदयं जिणधम्म वयण पडिमाहू।
जिणणिलया इदराए, णव देवा दिंतु मे बोहि॥

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिन वचन, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर — ये नवदेव मुझे रत्नत्रय की पूर्णता देवें।

उपरोक्त नवदेवों को एक जिनप्रतिमा में ही गर्भित बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पं. सदासुखदासजी कहते हैं—

"सो जहाँ अरहंतनि का प्रतिबिम्ब है तहाँ नवरूप गर्भित जानना, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय व साधु तो अरहंत की पूर्व अवस्थायें हैं। अर सिद्ध पहले अरहंत होकर सिद्ध हुए हैं, अरहंत की वाणी सो जिनवचन है और वाणी द्वारा प्रकाशित हुआ अर्थ (वस्तुस्वरूप) सो जिनधर्म है। तथा अरहंत का स्वरूप (प्रतिबिम्ब) जहाँ तिष्ठै सो जिनालय है। ऐसे नवदेवतारूप भगवान अरहंत के प्रतिबिम्ब का पूजन नित्य ही करना योग्य है।"[१]

नवग्रहविधान के आद्योपान्त अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसकी रचना उन परिस्थितियों में हुई होगी जब जैनेतर लोग ज्योतिष विद्या में अधिक विश्वास रखते थे तथा ग्रहों की चाल से ही अपने भले-बुरे भविष्य का निर्णय

---

१. पं. सदासुखदास : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वचनिका पृष्ठ २०८

करते थे एवं ग्रहों के निमित्त से होनेवाले अरिष्टों (अनिष्टों) के निवारणार्थ ज्योतिषियों के निर्देशानुसार ग्रहों की शान्ति के लिये देवी-देवताओं की आराधना एवं मन्त्रों-तन्त्रों की साधना किया करते थे ।

जब देखा कि जैनेतरों की भाँति जैन भी जिनेन्द्रदेव की आराधना छोड़कर उन्हीं देवी-देवताओं की ओर आकर्षित होकर अपने वीतराग धर्म से विमुख होते जा रहे हैं तो कतिपय विचारकों ने धर्म वात्सल्य एवं करुण भाव से नवग्रहविधान की रचना करके यह मध्यम मार्ग निकाला होगा, जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि– ग्रह शान्ति के लिये अन्य देवी-देवताओं के द्वार खटखटाने की जरूरत नहीं है, जिनेन्द्र देव की आराधना से ही अनिष्ट का निवारण होगा । कहा भी है–

"अर्क चन्द्र कुज सौम्य गुरु, शुक्र शनिश्चर राहु ।
केतु ग्रहारिष्ट नाशनें, श्री जिनपूज रचाहु ॥" [१]

× × ×

"श्री जिनवर पूजा किये, ग्रह अनिष्ट मिट जाय ।
पंच ज्योतिषी देव सब, मिलि सेवे प्रभु पाय ॥" [२]

यद्यपि सभी धर्मों में निष्काम भक्ति ही उत्कृष्ट मानी गई है, तथापि इसप्रकार की पूजा बनाने का मुख्य प्रयोजन यह था कि पूजक पहले देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर जिनपूजा करना आरम्भ करे, जिससे गृहीत मिथ्यात्व से बच सके । तदर्थ यह बताना जरूरी था कि जिस फल की प्राप्ति के लिये तुम देवी-देवताओं को पूजते हो, वही सब फल जिनपूजा से प्राप्त हो जावेगा । अन्यथा वे उस गलत मार्ग को छोड़कर जिन मार्ग में नहीं आते । जिनेन्द्र पूजा से लौकिक फलों की पूर्ति की बात सर्वथा असत्यार्थ भी तो नहीं है ; क्योंकि मन्दकषाय होने से जो सहज पुण्यबंध होता है, उससे सभी प्रकार

१. नवग्रहविधान : प्रथम समुच्चय पूजा की स्थापना का दोहा ।
२. नवग्रहविधान : प्रथम पूजा की जयमाला का प्रथम दोहा ।

की लौकिक अनुकूलतायें भी प्राप्त तो हो ही जाती हैं ? तथापि कामना के साथ की गई पूजा-भक्ति निष्काम भक्ति की तुलना में हीन तो है ही, इस ध्रुव सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग तो ग्रहों की शान्ति हेतु ग्रहों की भी पूजा करने लगे थे, उनकी दृष्टि से उपर्युक्त दूसरे दोहे में यह बताया गया है कि नवग्रहों की पूजा करना योग्य नहीं है, क्योंकि नवग्रहों के रूप में जो ये ज्योतिषीदेव हैं, वे स्वयं भी सब मिलकर जिनेन्द्र के चरणों की सेवा करते हैं।

नवग्रहविधान में इन्हीं उपर्युक्त नवदेताओं की पूजन की जाती है, नवग्रहों की नहीं। जहाँ तक नवग्रहों की शान्ति का सवाल है सो वह तो अपने पुण्य-पाप के आधीन है, किन्तु इतना अवश्य है कि वीतराग देव की निष्कामभक्ति करने से सहज ही पापकर्म क्षीण होते हैं और पुण्यकर्म बंधता है, इससे बाह्य अनुकूलता भी सहज ही प्राप्त हो जाती है। इस संबंध में पण्डित टोडरमलजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :

"यहाँ कोई कहे कि – जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो – ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि इनके द्वारा होती है या नहीं ? उसका समाधान :–

जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादि रूप विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है, और यदि वे (भक्ति स्तवनादि) के परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप-प्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है, और पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है। तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। इसप्रकार इस

प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जो जिनशासन के भक्त देवादिक हैं, वे उस पुरुष को अनेक इन्द्रिय सुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं— इसप्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है। परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता, क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। इसलिए इन्द्रिय जनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना – यह भ्रम है।"[१]

जैनियों के भगवान साम्यभावी एवं सहज ज्ञाता-दृष्टा होते हैं, वे जानते सब कुछ हैं, पर करते कुछ भी नहीं; क्योंकि वे वीतरागी-सर्वज्ञ होते हैं। वे किसी का भला-बुरा तो करते ही नहीं, किसी पर राग-द्वेष भी नहीं करते। उन्हें भक्तों का भला एवं दुष्टों का दमन करने का विकल्प ही नहीं उठता।

इस सन्दर्भ में भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति में कहा गया निम्नांकित कथन दृष्टव्य है –

"कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्यं मनोवृत्ति, पार्श्वनाथः जिनोऽस्तुनः॥"

हे पार्श्वनाथ जिन ! कमठ ने आप पर उपसर्ग किया तथा धरणेन्द्र ने आपकी रक्षा का विकल्प किया – दोनों ने अपने-अपने भावों के अनुसार परिणम किए, किन्तु आपका दोनों के प्रति समान भाव रहा, अतः आपको नमन है।[१]

१- अरहंत होने पर तो उपसर्ग होता ही नहीं है, अतः इस कथन को साधक भूमिका की स्तवन समझना चाहिए।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक : पृष्ठ ६

आरती का अर्थ

"पूजन" शब्द की भाँति ही "आरती" शब्द का अर्थ भी आज बहुत संकुचित हो गया है। आरती को आज एक क्रिया विशेष से जोड़ दिया गया है, जबकि आरती पंचपरमेष्ठी के गुणगान को कहते हैं। जिनदेव के गुणगान करना ही जिनेन्द्र की वास्तविक आरती है।

पूजन साहित्य में "आरती" शब्द जहाँ-जहाँ भी आया है, सभी जगह उसका अर्थ गुणगान करना ही है। इस संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरण द्रष्टव्य हैं :—

देव-शास्त्र-गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न-भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार॥ [१]

देखिए ! इस पद्य में देव-शास्त्र-गुरु को तीन रत्न कहा गया है तथा इन तीनों रत्नों को क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्ररूप तीनों रत्नों का कर्ता (निमित्त) कहा गया है। तथा "भिन्न-भिन्न कहुँ आरती" कहकर तीनों का भिन्न-भिन्न गुणानुवाद करने का संकल्प किया गया है।

इसीप्रकार पंचमेरु पूजा, गुरु पूजा, दशलक्षणधर्म पूजा, क्षमावाणी पूजा, सिद्धचक्रमण्डल विधान आदि के निम्नांकित पदों से भी 'आरती' का अर्थ गुण-गान करना ही सिद्ध होता है।

पंचमेरु की 'आरती', पढ़ै सुनै जो कोय।
द्यानत फल जानै प्रभु, तुरत महाफल होय॥ [२]

× × ×

तीन घाटि नव कोड़ि सब, बन्दों शीष नवाय।
गुण तिन अट्ठाईस लों, कहूँ 'आरती' गाय॥ [३]

---

१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन : कविवर द्यानतराय, जयमाला छन्द।

२. पंचमेरु पूजन (जयमाला का अन्तिम छन्द) : कविवर द्यानतराय।

३. गुरु पूजन : कविवर द्यानतराय जयमाला का प्रथम छन्द।

दशलक्षण बन्दौ सदा, मन वांछित फलदाय।
कहों 'आरती' भारती, हम पर होहु सहाय॥[१]

× × ×

उनतिस[२] अंग की 'आरती', सुनो भवित चित लाय।
मन-वच-तन सरधा करो, उत्तम नरभव पाय॥[३]

× × ×

यह क्षमावाणी 'आरती', पढै-सुनै जो कोय।
कहै 'मल्ल' सरधा करो, मुक्ति श्रीफल होय॥[४]

× × ×

जग आरत भारत महा, गारत करि जय पाय।
विजय 'आरती' तिन कहूँ पुरुषारथ गुण गाय॥[५]

× × ×

मंगलमय तुम हो सदा, श्री सन्मति सुखदाय।
चांदनपुर महावीर की, कहूँ 'आरती' गाय॥[६]

इसप्रकार पूजन साहित्य में आये उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि आरती शब्द का अर्थ केवल स्तुति (गुणगान) करना है, अन्य कुछ नहीं। तथा उक्त सभी कथनों में — 'आरती' को पढ़ने, सुनने या कहने की ही बात कही गई है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'आरती' पढ़ने, सुनने या कहने की ही वस्तु है, क्रियारूप में कुछ करने की वस्तु नहीं।

वैसे तो दीपक से आरती का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, परन्तु प्राचीनकाल में जिनालयों में न तो कोई बड़ी खिड़कियाँ होती थीं और न ऐसे रोशनदान

---

१. दशलक्षण धर्म पूजा : जयमाला का प्रथम छन्द।
२. सम्यग्दर्शन के ८ सम्यग्ज्ञान के ८ व सम्यक्चारित्र के १३ : कुल २९ अंग हुए।
३. कविवर मल्ल क्षमावाणी पूजन : जयमाला का प्रथम छन्द।
४. कविवर मल्ल क्षमावाणी पूजन : जयमाला का अन्तिम छन्द।
५. संत कवि : सिद्धचक्र विधान : प्रथम पूजन, जयमाला।
६. चांदनपुर महावीर पूजन : कवि पूरनमल जैन।

ही, जिनसे पर्याप्त प्रकाश अन्दर आ सके। दरवाजे भी बहुत छोटे बनते थे तथा बिजली तो थी ही नहीं। इसकारण उन दिनों प्रकाश के लिए जिनालयों में दिन में भी दीपक जलाना अति आवश्यक था। तथा भले प्रकार दर्शन के लिए दीपक को हाथ में लेकर प्रतिमा के अंगोपांगों के निकट ले जाना भी जरूरी था, क्योंकि दूर रखे दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में प्रतिमा के दर्शन होना संभव नहीं था।

किन्तु आज जब जिनालयों में प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था है तो फिर दीपक की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि या तो हमारी पुरानी आदत के कारण या फिर अनभिज्ञता के कारण आज अनावश्यक रूप से अखण्ड दीप जल रहा है। तथा आरती का भी दीपक अभिन्न अंग बन बैठा है, इस कारण अब बिना दीपक के आरती आरती सी ही नहीं लगती।

अत: आज के संदर्भ में दीपक व आरती का यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन जानकर प्रचलित प्रथा को सही दिशा देने का प्रयास करना चाहिए।

यदि तुझे भव दुःख से तिरना हो...

भाई ! प्रातः काल उठते ही यदि तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-मुनिराज याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री-पुत्र आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है ? संसार की तरफ या धर्म की तरफ..... ?

जो परमभक्ति से जिनेन्द्र भगवान का दर्शन नहीं करता तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वीतरागमार्ग नहीं रुचता और तिरने का निमित्त नहीं रुचता; परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है। जैसे रुचि होती है, वैसे संबंधों की तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती; इसलिए कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति नहीं उलसती, पूजास्तुति का भाव उत्पन्न नहीं होता; वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है..... ।

– गुरुदेव श्री कानजी स्वामी : श्रावकधर्म प्रकाश